

उपसंहार

वर्तमान युग चेतना का युग है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूलभूत परिवर्तन आने से सोचने एवं समझने के दृष्टिकोण में नवीनता आई है। विज्ञान एवं पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के परिणाम स्वरूप भारतीय जन जीवन में नयी स्फूर्ति आ गई। सदियों से प्रस्तुत भारतीय मनीषा ने अंगड़ाई ली है। प्राचीन चिन्तन धारा जो सतत् विदेशी आक्रमणकारियों के कारण अवगुंठित हो गयी थी, हीन भावना के कारण जो अकर्मण्यता आयी थी उसको हमारे यहाँ के दार्शनिकों समाज सुधारकों एवं कवियों ने एक नवीन रूप दिया। साहित्य द्वारा समाज को परिष्कृत करने का हमारे कवियों ने बीड़ा उठाया। पौराणिक आदर्शों को तो स्वीकारा गया पर वे मान्यताएँ जिनके कारण समाज जर्जरित हो गया था उन्हें जड़ मूल से उखाड़ने की पुरजोर वकालत की गयी। समाज द्वारा ही व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना जागृत होती है। वह 'स्व' से 'पर' की ओर उन्मुख होता है। यही 'पर' का भाव ही उसे श्रेष्ठता की ओर उन्मुख करता है। वह निज हित को लोक कल्याण के सम्मुख नगण्य मानता है।

हिन्दी आलोचना की वर्तमान स्थिति में शाह ने अपनी आलोचनात्मक कृतियों द्वारा उसके परिष्कार में जो योगदान दिया है उसका महत्व कम नहीं। यहाँ प्रतिकूलता से बढ़ना कुछ ज्यादा ही जरूरी हो जाता है— अपनी सृजनधर्मिता की रक्षा करने के खातिर भी, इसमें ऊर्जा का बिखराव अवस्यंभावी है। शाह के रचना संसार व समकालीन हिन्दी साहित्य के प्रति उनकी निष्ठा के संदर्भ में निष्कर्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि उनका रचना संसार व्यापक रहा है तथा उनके साहित्यिक चिन्तन की कोई पूर्व निर्दिष्ट सीमा नहीं है। वे रचना के साथ-साथ और समानान्तर गहन चिन्तन-मंथन भी करते हैं और नये विचारों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य के धरातल पर रखकर साहित्य की विविध विधाओं के माध्यम से एक नई दिशा की खोज करते हैं। सामाजिक दायित्व बोध तो भाषिक सृजन के साथ जुड़ा हुआ है। शब्द सामाजिक प्रयोजनों के वाहक होते हैं। वे जीवित मानवीय हरकतें हैं। पर ऐसा नहीं है कि जिस रचना में दायित्व बोध की स्थिति हाशिये पर हो, उसमें रचनात्मकता नहीं होती। शाह ने अपनी रचनाओं में इन सभी बातों के प्रति सजगता

निभायी है। साहित्य के सभी प्रचलित स्वरूपों में अपनी रचनाओं द्वारा शाह हर बार कुछ नया और अर्थपूर्ण कर दिखाना चाहते हैं। इनका रचना संसार समकालीन हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने का संकलन व्यक्त करता है। उनकी वैचारिक शक्ति एवं सृजनात्मक निष्ठा समकालीन हिन्दी साहित्य में आये भटकाव की स्थिति का सक्षम प्रतिकार कर सकने में व्यर्थ सिद्ध हो सकती है।

शाह का साहित्यिक व्यक्तित्व केवल कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, निबन्धकार, चिन्तक, या आलोचक के रूप तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वे नाटककार, अनुवादक, यात्रावृत्तकार व संपादक के रूप में भी हमारे समूख आते हैं। ऐसा करके शाह ने हिन्दी साहित्य को समयानुरूप एक नयी दिशा प्रदान की है। आज के जागरूक पाठक की भी यही माँग है कि उसे विभिन्न विधाओं में बदलते परिवेश पर आधारित चिन्तन मनन व वैचारिकता पर प्रकाश डालने वाली साहित्यिक सामग्री पढ़ने को मिले इस संदर्भ में शाह की यह विशेषता रही है कि वे लेखक और पाठक को हमेशा एक दूसरे से जोड़ते रहने का प्रयास करते रहे हैं।

साहित्यिक कृतियों को एक धरातल पर देखा जाय तो यह किसी समाज की आन्तरिक गतिशीलता के अभाव की क्षतिपूर्ति है। लेखक समाज का अन्तःकरण तथा अपने युग की चेतना का सबसे सजग बिन्दु होता है। साहित्यिक हलचल केवल समाज का आईना भर नहीं होती, वह हमेशा आईने से कुछ अधिक होती है। जो सर्जनात्मक साहित्य की प्रगतिशील अवधियों होती हैं, उनके विषय में यही सच है। इस गतिशील अवधियों के इर्द-गिर्द जो समय होता है उसी की रचनात्मक सक्रियता के बारे में कहा जा सकता है कि वह समाज का आईना है। इस दृष्टि से देखा जाय तो आज जा रहे साहित्य का अधिकांश सामाजिक राजनीतिक गतिरोध का आईना है। और जैसा हमने देखा इतना सही और साफ आईना शायद ही हमारा साहित्य कभी बना हो।

उपन्यासकार ने व्यक्ति और धर्म के परम्परा सम्बन्धों, एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ परस्पर सम्बन्धों तथा धर्म और सरकार के बीच परस्पर सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है तथा उन्होंने हर उपन्यास के द्वारा सर्वधर्म सम्भाव की भावना को स्पष्ट किया गया है।

रमेशचन्द्रशाह जी के उपन्यासों में हम देखते हैं कि अपने मौलिक रूप में हर संस्कृति, धर्म एवं ऐतिहास और इस रूप में सम्प्रदाय मानवीय मूल्यों पर आधारित होता है। व्यक्ति और समाज के हर स्तर, प्रकार एवं क्षेत्र के सम्बन्ध तथा आचरण की सारी दृष्टि और मर्यादा इसी से प्रेरित निरूपित होती है। इस स्थिति में हर संस्कृति, धर्म तथा सम्प्रदाय के मानने वालों की आचार संहिता मौलिक रूप में दूसरों से भिन्न नहीं होगी। फिर विभिन्न धर्मों के मानने वालों के बीच सद्भावना न केवल सहज है, वरन् हर धर्म दृष्टि से अपेक्षित भी।

उपन्यासकार ने सारे अपने उपन्यासों के माध्यम से मानवीय मूल्य, प्रेम, करुणा, बन्धुत्व, आदि मनुष्य और मनुष्य के बीच सद्भावना के सेतु का काम किये हैं। नैतिक मूल्य प्रायः सभी धर्मों में समान है। सत्य, अहिंसा, उदारता, उपसर्ग, अस्तेय, अपरिग्रह, प्रेम, दया, क्षमा, सादगी आदि का महत्व सभी धर्मों में एक स्वर से स्वीकार्य है। सभी उपन्यास के अन्तर्गत मानवीय गुणों के विकास पर जोर दिया गया है।

यहाँ तक तो उपन्यास और नाटक दोनों एक ही ढंग से चलते हैं। दोनों कुछ घटनाओं अथवा बातों को लोगों के सामने उपस्थित कर देते हैं और परिणाम निकालने का काम पाठकों पर छोड़ देते हैं। नाटककार को तो स्वयं प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता, पर उपन्यासकार यदि चाहे तो बीच में स्वयं भी टीका-टिप्पणी कर सकता है। वह उपन्यास में दिए चरित्रों की आलोचना और कार्यों की व्याख्या कर सकता है और उनसे कुछ नैतिक सिद्धांत निकालकर लोगों के सामने रख सकता है। जब वह अपना यह अधिकार काम में लाता है और अप्रत्यक्ष रूप से चरित्र अंकित करने के साथ ही साथ प्रत्यक्ष रूप से उसकी आलोचना भी करने लगता है, तब वह मानो अपने रचे हुए संसार का आप ही आलोचक और व्याख्यातक भी बन जाता है। उस दशा में उसकी वहीं

आलोचना और व्याख्या बाहरी संसार की भी आलोचना और व्याख्या हो जाती है। यही जीवन की आलोचना का प्रत्यक्ष और दूसरा प्रकार है।

प्रायः आधुनिक भारतीय सभी विचारक इस एक बात पर सहमत हैं कि पिछली कई शताब्दियों के दौरान हमारे यहाँ जीवन मूल्यों का काफी ह्रास हुआ है। जिसका परिणाम हमें भौतिक दायता के रूप में ही नहीं, समन्वय अपने विचार दर्शन और संवेदन की पंगुता के रूप में भी भूगतना पड़ा और अब तक भूगतना पड़ रहा है। स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द और गाँधीजी जैसे लोकनायकों ने तो इस पर चिन्तन किया है, साहित्यकारों ने भी इसे अन्तःप्रमाणित किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चिन्तनात्मक लेखों तथा कहानियों में जीवन की यही चिन्ता और उससे उत्पन्न उदासी की गूँज विद्यमान है।

शाह अनुभव करते हैं कि बुद्धिजीवियों की बिरादरी में एक रचनाकर्मी लेखक की स्थिति इसलिए भी कुछ विचित्र हो जाती है कि एक ओर जहाँ वह बड़ी उत्कृष्टता से यह महसूस करता है कि उसका कर्म मनुष्य की ऐन्द्रिय, प्राणिक भावनात्मक तथा बौद्धिक सभी सत्ताओं की संवेद सक्रियता से उपजने के कारण मनुष्य के क्रिया कलापों के बीच केन्द्रिय महत्व का स्थान रखता है, वही दूसरी ओर वह यह भी पाता है कि आधुनिक जगत में उसे इस स्थान से मानो, बलातू विस्थापित कर दिया गया है, मानो, वह जीवन के केन्द्र में नहीं, परिधि पर है।

ऐसे साहित्यकार बिरले ही होते हैं, जो अपनी जमीन पर मजबूती से पैर जमाए रखकर दार्शनिक, भौतिकीविद और मनोविश्लेषक की दुनियाओं से वास्तविक सहानुभूति और वास्तविक अभिज्ञता के आधार पर मुठभेड़ कर सकें और समग्र मनुष्य के विखण्डन से सम्बन्धित वे बुनियादी प्रश्न उनसे कर सकें, जो कोई और शायद उनसे पूछने की हिम्मत नहीं करता। ऐसा तभी संभव है जब वे विशेषज्ञता के घेरों को तोड़ कर और इन घेरों से ही उपजी मानव, समाज की व्यक्त-अव्यक्त दुश्चिन्ताओं को सामने लाएँ, लेकिन देखा गया है कि वे इस स्थिति के दायित्व से कतराते रहे हैं।

साहित्यकार निश्चय ही अपने देश और समाज की राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में भी विशिष्ट योगदान कर सकता है, किन्तु तभी जब वह स्वयं अपनी साहित्यिक संस्कृति के स्वास्थ्य का भी जीत कर पाने में भी सक्षम हो। साहित्यिक संस्कृति के स्वास्थ्य की बात संस्कृति के व्यापक क्षेत्र से जुड़ी हुई है। इसके लिए दार्शनिक चिन्तन का सहयोग जरूरी हो जाता है। दार्शनिक स्तर के चिन्तन पर ही आधुनिकता और परम्परा की टकराहट से उपजी समस्याओं का मूलगामी मंथन संभव है।

भारतीय परिवार में यह बदलाव पाश्चात्य प्रभाव का वर्णन है। भारतवासी होने पर भी नायक अपने परिवार के साथ विदेश में जीवन चलाता है। परिवार में शांति का वातावरण होना चाहिए। हिंसा से अशांति एवं पाशविकता का जन्म होता है। सद्भ, अहिंसा से शान्ति, भावना से मानवीयता एवं सामाजिकता का भी है। अहिंसा की चेतना एवं भावना के कारण उसमें मानवीय एवं सामाजिक भावना का विकास हुआ है। आदी युग में जब मनुष्य जंगल में रहता था, वह पशु के समान आचरण करता था। अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता था। अपनी शक्ति के अनुसार चल कर सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहता था। उस समय उसे केवल अपनी झपट लेता—चिन्ता रहती थी। जब कोई ताकतवर आदमी दूसरे से कोई वस्तु छीन था तो थोड़ी देर के लिए तो मदमस्त हो जाता था मगर अपने से अधिक ताकतवर व्यक्ति की उपस्थिति की आशंका उसे भयभीत कर देती थी। किसी को किसी का विश्वास न था। प्रत्येक के मन में आशंका एवं भय का भाव बना रहता था। ऐसी स्थिति में व्यक्ति मकान नहीं बना पाता घर नहीं बसा पाता। जिस दिन दो, व्यक्तियों के मध्य सहअस्तित्व की भावना उदीत हुई। उसी दिन उनके मन में प्रेमसामाजिक भावना की दूब अंकुरित, भाव के बीच छिटके—विश्वास एवं मैत्री, समाज निर्माण की आधारशिला रखी गयी।

ज्यों—त्यों उसके जीवन क्यों व्यक्ति के मन में अहिंसा विकसित होती है त्यों मानवीय एवं सामाजिक भावना का उद्देश्य होता है। जब किसी व्यक्ति के हृदय में यह बात आती है कि जिस प्रकार उसे अपने प्राण प्रिय है। उसी प्रकार दूसरों की भी अपने प्राण प्रिय होंगे। जिस प्रकार वह जीवित रहना चाहता है। उसी प्रकार दूसरा भी जीवित रहना

चाहता होगा। जिस प्रकार वह मरना नहीं चाहता उसी प्रकार दूसरा भी मरना नहीं चाहता होगा। उसी समय वह अहिंसा का कदम, व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तरों पर शान्ति की स्थापना के लिए जिस प्रकार उठाता है, उसी प्रकार के आचरण की सदस्यों से अपेक्षा है। इस प्रकार के आचरण की अपेक्षा विश्व शांति की स्थापना के लिए विश्व के राष्ट्रसदस्यों से हैं। उपन्यास में भूमंडलीकरण के बारे में उपन्यासकार ने इस प्रकार लिखा है।



वैज्ञानिक प्रगति तथा तकनीकी विकास के कारण आज दुनिया बहुत छोटी बन गयी है। विश्व एकता की चेतना का भी तेजी से विकास हुआ है। व्यक्ति यह समझने तथा पहचानने लगा है कि विश्व के एक भाग की घटना का प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ता है। यदि किसी देश का जंगल कटता है या नष्ट होता है तो उससे पूरे संसार का पर्यावरण प्रभावित होता है। किसी देश में जनसंचार का अस्त्र निर्मित होता है तो पूरी दुनिया में तनाव एवं संघर्ष का वातावरण निर्मित होता है। संसार के किसी भूभाग का कोई बच्चा भूखा तो उससे समस्त जगत् के वायुमण्डल में वेदना का स्वर मुखरित होता है।

हितोपदेश में कहा गया है कि उदार चरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम् (1/70) जब चित्त उदार बनता है, जब मन महामना बनता है। जब चेतना का विस्तार होता है, तब पूरी वसुधा एक कुटुम्ब के रूप में परिणत हो जाती है।

प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक युग तक जब विभिन्न दार्शनिकों चिन्तकों मनीषियों कवियों एवं कलाकारों ने, "स्व" की संकीर्ण परिधी को त्यागकर पृथ्वी लोक के एकत्व की प्रतीति की तब उन्हें –"वसुधैव कुटुम्बकम्" की अनुभूति हुई। ईश्वर जीव तथा जगत् दोनों पर शासन करता है। वह सर्वशक्ति सम्पन्न और अधिकारभाव से संयुक्त है। उसकी इच्छा ही विधान है। न्यायात्मक रूप में वह न्याय के आधार पर शासन करता है। उसकी दृष्टि में सब जीव समान हैं। वह जीव को उसके गुण अवगुण के कारण कर्मों का फल देता है। दयालु रूप में वह जीना चाहता है और वह प्रेम एवं करुणा की मूर्ति है। वह अपने जीवों से प्रेम करता है।

बीसवीं शताब्दी ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठित किया है। मनुष्य ही सारे मूल्यों का स्रोत एवं उपादान है। मानववादी दृष्टि का पल्लव हुआ है। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक का आरम्भ विश्वशक्तियों के विघटन से हुआ है। पूर्वी यूरोप के देशों की लौट दीवारें ध्वस्त हो चुकी हैं तथा संसार के अधिकांश देशों ने लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का वरण कर लिया है। पूँजीवादी देशों में भी वैचारिक परिवर्तन होने आरम्भ हो गये हैं। विश्व के देशों में इस बात पर आम सहमती विकसित होती जा रही है कि विकास का अर्थ केवल मशीनों के द्वारा अधिक उत्पादन करना नहीं है। विकास अपने में साध्य नहीं है। विकास केवल साधन है और विकास का लक्ष्य मनुष्य है।

विकास का उद्देश्य— मनुष्य की समग्र उन्नति है। मनुष्य की भौतिक सन्तुष्टि के साथ-साथ उसकी आत्मिक सन्तुष्टि भी हो सके। अपना मनुष्य साथ उसे सार्थक भी बना सके। हमारी दृष्टि में विकास जीवन का सुखी बनाने के साथ विश्वशान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के प्रति समर्पित, एवं प्रगति का लक्ष्य है— तथा प्रकृति जगत के संरक्षण एवं उसके प्रति मैत्रीभाव के लिए संकल्पित मानवीय भावना का विस्तार। इस प्रकार की भावना से मानव की मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं एवं मानसिक आकांक्षाओं को पूरा करनेवाली एक न्यायसंगत विश्वव्यवस्था स्थापित हो सकेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना

सामाजिक जीवन में सद्भावना के उदय एवं विकास के लिए आधारभूत शर्त यह है कि समाज के सदस्यों एवं संवर्गों में सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की स्वीकृति हो तथा 'सापेक्षता' के भाव की स्थिति हो। शान्ति का आधार 'सुव्यवस्था' तथा सुव्यवस्था का आधार 'सापेक्षता' है। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं विकास के लिए घटकों द्वारा निरपेक्ष अथवा आग्रहपूर्ण नीति का त्याग तथा सापेक्ष अथवा सहयोगपूर्ण नीति का वरण आवश्यक है। सह-अस्तित्व की परिपुष्टि के लिए आत्मतुल्यता एवं समभाव की विचारणा का पल्लवन आवश्यक है।

अहिंसा के प्रवर्तकों ने इसी कारण समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखने तथा समस्त जीवों को समभाव से देखने का उपदेश दिया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि किसी एक जाति में अन्य की अपेक्षा कोई असाधारण विशेषताएँ नहीं होती।

जाति और कुल से त्राण नहीं होता। प्राणी-मात्र आत्मतुल्य है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को संसार के सभी प्राणियों को आत्मतुल्य मानना चाहिए, सबको आत्मतुल्य समझना चाहिए, सबके प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के लिए पृथ्वीलोक के विभिन्न सामाजिक संवर्गों एवं राजनीतिक इकाइयों के बीच सद्भाव, समझदारी एवं सहयोग आवश्यक है। यह आवश्यक है कि सामाजिक धरातल पर आत्मतुल्यता एवं समता की भावना विकसित हो, राजनीतिक धरातल पर सभी देश परस्पर एक-दूसरे की स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता का आदर करें एवं एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें तथा आर्थिक धरातल पर देशों के बीच व्याप्त आर्थिक असन्तुलन एवं वैषम्य समाप्त हो।

सामाजिक समता

विश्व के सभी व्यक्ति एक विश्व-समाज के समान सदस्य हैं। व्यक्ति की योग्यता के मापदण्ड गुण, प्रतिभा, ज्ञान, कर्मकौशल, श्रम-शक्ति एवं निष्ठा माने जाने चाहिए लिंग,

जाति, कुल, गोत्र, वर्ण, सम्प्रदाय, क्षेत्र आदि नहीं। मानव समाज में जो विभिन्न प्रजातियाँ मिलती हैं, उनकी परस्पर भिन्नता का कारण शारीरिक भेद है। प्रजातियों के शारीरिक भेद मूलतः आनुवंशिक रचना के कारण तथा अंशतः परिवेशजन्य होते हैं। हम सबको यह बराबर ध्यान रखना चाहिए कि कोई उत्तम अथवा निम्न प्रजाति नहीं है। किसी 'शुद्ध प्रजाति' की उपस्थिति का कोई प्रमाण नहीं है, यह धारणा कि प्रजातीय सम्मिश्रण से हानिकारक परिणाम निकलते हैं, वैज्ञानिक दृष्टि से अप्रमाणिक है।

समाज में पुरुष एवं स्त्री को परस्पर पूरक बनना चाहिए। शताब्दियों की गुलामी सहन करने के बाद स्त्री-वर्ग में चेतना आयी है। बीसवीं शताब्दी के उदय के साथ पश्चिमी देशों में वीमेन लिबरेशन मूवमेण्ट (नारी-मुक्ति आन्दोलन) आरम्भ हुआ। उसकी गति तेज हुई है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री पुरुषों की बराबरी कर रही है। स्त्री पुरुष की प्रतियोगी हो गयी है। मेरा अपना विचार है कि इस आन्दोलन में नारी वर्ग के विकास की तथा उसके द्वारा सृजनात्मक सहयोग की प्रवृत्तियाँ कम हैं। पुरुष के अहंकार एवं उसके शोषण के प्रति स्त्री-वर्ग का आक्रोश अधिक है। आन्दोलन ने गलत दिशा ले ली है। शुभ यह होगा कि स्त्री वर्ग अपने सहज गुणों के विकास की ओर अधिक ध्यान दे तथा पुरुष की बराबरी करने, पुरुष से प्रतियोगिता करने और पुरुष से होड़ करने में अपनी शक्ति का अपव्यय न करे। परिवार की सुख-शान्ति तभी सम्भव है जब पति-पत्नी में सामरस्य एवं सामंजस्य हो।

हर मामले में पत्नी नमन करे—यह पुरुष के अहंकार एवं संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है। दूसरी ओर स्त्री पुरुष के प्रति आक्रामक मुद्रा धारण करे— यह स्त्री के आक्रोश एवं विद्वेष का सूचक है। इस प्रवृत्ति के बढ़ने से 'परिवार' संस्था विघटित होगी। इसका कुप्रभाव भावी पीढ़ी पर कितना होगा? इसकी कल्पना ही भयावह है। श्रेयस्कर यह है कि पुरुष एवं स्त्री वर्ग परस्पर पूरक बनकर सहयोग के रास्ते से अपना विकास करें तथा सामाजिक सुख, शान्ति एवं विकास में भागीदार बनें।

समाज को जाति, उपजाति, वर्णों आदि में बाँटकर मनुष्य वर्गों के बीच में भेदक दीवारें खड़ी करनेवाली व्यवस्था से समता पर आधारित समाज की रचना सम्भव नहीं है। अभिजातीय दम्भ, रंगभेद एवं जातीय पृथक्करण, प्रजातीय सर्वोच्चता, दास-प्रथा, बँधुआ मजदूर प्रथा आदि दुष्प्रवृत्तियों एवं कुप्रथाओं का समूल विनाश किये बिना सुखी एवं समृद्धशील समाज स्थापित नहीं हो सकता। समाज में धार्मिक चेतना के विकास के साथ सम्प्रदायवाद का अन्त आवश्यक है। धर्म-भावना से चेतना का शुद्धिकरण होता है और वृत्तियों का उन्नयन भी होता है। धर्म दिखावा नहीं, प्रदर्शन नहीं, रूढ़ियाँ नहीं, किसी के प्रति घृणा नहीं, मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव नहीं अपितु मनुष्य में मनुष्यता के गणों की विकास शक्ति है, सार्वभौम चेतना का सत-संकल्प है।

जब धर्म 'सम्प्रदाय' हो जाता है तो मानवीय प्रगति में बाधक हो जाता है। इसी कारण सम्प्रदायवाद के नाम पर झगड़े होते हैं, शान्ति भंग होती है, युद्ध लड़े जाते हैं। धर्म सम्प्रदाय नहीं है। धर्म का अर्थ है- श्रेष्ठ आचरण। जीवन में जो धारण करना चाहिए, श्रेष्ठ आचरण करना चाहिए, नैतिक मूल्यों को अपने जीवन-व्यवहार में उतारना चाहिए वही धर्म है। अहिंसा की ज्योति से मर्यादित एवं संचालित सम्प्रदायों से निरपेक्ष, धर्म चेतना का विकास होना स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है। धर्म के नाम पर जब अनेक सम्प्रदाय बन जाते हैं, धर्म के नाम पर जब धर्म के संगठन बन जाते हैं, तब 'एक धर्म' के अनुयायियों में अपने धर्म की श्रेष्ठता तथा 'दूसरे धर्म' के अनुयायियों के प्रति हीनता एवं घृणा के भाव पनपने एवं उभरने लगते हैं।

रमेशचन्द्र शाह जी के उपन्यासों में हम देखते हैं कि अपने मौलिक रूप में हर संस्कृति धर्म और ऐतिहास और इस रूप में सम्प्रदाय मानवीय मूल्यों पर अनेक प्रकार एवं क्षेत्र के सम्बन्ध पर आधारित होता है। व्यक्ति और समाज के हर स्तर तथा आचरण की सारी दृष्टि और मर्यादी इसी से प्रेरित निरूपित होती है। इस धर्म तथा समन स्थिति में हर संस्कृति सम्प्रदाय का मानने वालों की आचार संहिता मौलिक रूप में दूसरों से भिन्न नहीं होगी। फिर विभिन्न धर्मों का मानने वालों के बीच सद्भावना न केवल सहज है वरन् हर धर्म दृष्टि से अपेक्षित भी।

उपन्यासकार ने सारे अपने उपन्यास के माध्यम से मानवीय मूल्य प्रेम करुणा बन्धुत्व आदि मनुष्य और मनुष्य के बीच सद्भावना के हेतु का काम किये हैं। नैतिक मूल्य प्रायः सभी धर्मों में समान है। सत्य, उपसर्ग, उदारता, अहिंसा, सादगी, आदि का महत्व सभी धर्मों में एक है। क्षमा, दया, प्रेम अपरिग्रह अस्तेय स्तर से स्वीकार्य है। सभी उपन्यास के अन्तर्गत मानवीय गुणों के विकास पर जोर दिया गया है।

शाह के चिन्तन को उसका द्वन्द्वात्मक चरित्र और विचलित कर देने वाला स्वभाव सिर्फ उनके आत्मान्वेषण से नहीं मिलता है बल्कि उससे जिसे वे तादात्म्य की संज्ञा देते हैं। आत्मान्वेषण को प्रत्यक्ष करने का उपक्रम। सामान्य जन के भोगे हुए अनुभव में साझेदारी यथार्थ के साथ र्नायविक दृ-युग बौद्धिक और आध्यात्मिक संपत्ति। यह तादात्म्य भी अपने भीतर कर्म का बीच छुपाये हुए है। शाह के मतानुसार क्या राजनीति में लोक क्या साहित्य में चिन्तन न लोक चित्त ही वह माध्यम है जिस पर एकाग्र होकर उस परिवर्तन जीवन के कुंठित और भ्रष्ट हो गये। अर्थात् उस क्रान्ति का आवागन कर सकते हैं जो खोये हुए अर्थ को फिर से लौटा सके।

रमेशचन्द्र शाह जी के उपन्यासों में वैश्वीकरण का प्रभाव हर पात्र में देख सकते हैं। वैश्वीकरण का प्रभाव आजकल पाश्चात्य भाव है। इस पाश्चात्य भाव से हम अपने आपको भूल जाते हैं। किसी कार्य को या विषय को पालन करना या अभ्यास करने में सीमाएँ होती है। उस लक्ष्मण रेखा को हमे अच्छी तरह जानकर, समझकर उस रास्ते पर चलना चाहिए। किसी भी कार्य को करते समय उसमें दूरदृष्टि, साहस और धैर्य का होना अत्यंत आवश्यक हैं।

साहस और धैर्य ही मानव गुण में श्रेष्ठ गुण माना जाता है। जब भी संकट आ पड़ता है तो हमें, धैर्य धारण करने को कहा जाता है। किसी पर अत्याचार हो रहा है, अत्याचारित व्यक्ति दुर्बल है तो हम कहेंगे, धैर्य धारण करो, अतः इस अवस्था में स्थित रहना ही धैर्य है। विषम बिन्दुओं के बीच सेतु का स्वरूप है धैर्य। मनुष्य को अपने-अपने

बल पर ही जीना पडता है, तब दूसरों को किसी भी रूप में उदास न करके अपने इमान धर्म पर चलना ही अच्छी बात है।

तात्कालीन सुख के लिए ही नहीं, भविष्य में भी अच्छा होना चाहिए। छोटी-छोटी बातों से प्रभावित होकर अपना सिद्धांत, जीवन मूल्य, आत्म सम्मान, संस्कारों की बलि नहीं चढ़ानी चाहिए। विदेश से अच्छी बातों को ग्रहण कर अन्य बातों को त्यागना चाहिए। मन को दृढ संकल्पवादी होना चाहिए। मनुष्य में निर्णयात्मक शक्ति के साथ-साथ अपनी परंपरा, संस्कृति, और अपने देश के गौरव को बनाए रखना चाहिए। चंचलता को त्याग कर भारत का निर्माण करना चाहिए।

वैश्वीकरण : स्वतंत्र संचार

वैज्ञानिक प्रगति तथा तकनीकी विकास के कारण आज दुनिया बहुत छोटी बन गयी है। विश्व एकता की चेतना का भी तेजी से विकास हुआ है। व्यक्ति यह समझने तथा पहचानने लगा है कि विश्व के एक भाग की घटना का प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ता है। यदि किसी देश का जंगल कटता है या नष्ट होता है तो उससे पूरे संसार का पर्यावरण प्रभावित होता है। यदि किसी देश में जन-संहार का अस्त्र निर्मित होता है तो पूरे दुनिया में तनाव एवं संघर्ष का वातावरण निर्मित होता है। यदि संसार के किसी भू-भाग का कोई बच्चा भूखा मरता है, तो उससे समस्त जगत् के वायुमंडल में वेदना का स्वर मुखरित होता है।

किसी देश की उन्नति अवनति, उत्थान, पतन, आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान एवं जीवन पद्धति को वहाँ के जन जीवन में व्याप्त संस्कृति से ही पहचान हो पाती है। किसी भी समाज अथवा देश के साहित्य के माध्यम से उसकी सांस्कृतिक स्थितियों को सरलता से समझा जाता है।

समाज एवं संस्कृति का अन्योन्याश्रित संबंध है। सुसंस्कृत व्यक्ति ही श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी बन सकता है। संस्कृति ही व्यक्ति को एक जीवन पद्धति देती है। उसका

आचार—विचार, रहन—सहन, कार्य व्यवहार, चाल चलन, सब कुछ उस सामाजिक परिवेश की देन होती है। जिसमें वह पलता एवं बड़ा होता है। मानवीय संवेदना, आध्यात्मिक भाव, दया, अहिंसा, प्रेम, त्याग एवं सहिष्णुता का बीजारोपण होता है और सहअस्तित्व, सहकारिता तथा सद्भाव जैसे उसमें समावेश होता है। संस्कृति ही राष्ट्र के उत्थान का श्रेष्ठ मापदण्ड है। किसी देश की उन्नति अवनति, उत्थान, पतन, आचार दृ—विचार, ज्ञान दृ—विज्ञान एवं जीवन पध्दति को वहाँ के जन जीवन में व्याप्त संस्कृति से ही पहचान हो पाती है। किसी भी समाज अथवा देश के साहित्य के माध्यम से उसकी सांस्कृतिक स्थितियों को सरलता से समझा जाता है। साहित्य जातीय विकास और सांस्कृतिक चेतना की आश्रय निधि है।



वह समाज की सहायता से अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए अपना आत्मिक एवं मानसिक विकास करता है।

भविष्य के लिए सुझाव

यदि किसी देश का जंगल कटता है या नष्ट होता है तो उससे पूरे संसार का पर्यावरण प्रभावित होता है और नष्ट भी हो जाता है। ऐसे पुरी दुनिया को एक मुट्ठी में ले आना हैं। मनुष्य का लक्ष्य पूर्ण रूपेण विकास से है। विकास का उद्देश्य— मनुष्य की समग्र उन्नति है।

मनुष्य की भौतिक सन्तुष्टि के साथ-साथ उसकी आत्मिक सन्तुष्टि भी हो सके, और वह अपना जीवन सुखी बनाने के साथ-साथ उसे सार्थक भी बना सके। हमारी दृष्टि में विकास एवं प्रगति का लक्ष्य है— विश्वशान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के प्रति समर्पण तथा प्रकृति जगत के संरक्षण एवं उसके प्रति मैत्री-भाव के लिए संकल्पित मानवीय भावना का विस्तार। इस प्रकार की भावना से मानव की मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं एवं मानसिक आकांक्षाओं को पूरा करनेवाली एक न्यायसंगत विश्व-व्यवस्था स्थापित हो सकेगी। ऐसे पुरी दुनिया को एक मुट्ठी में बाँधना हैं। हम सब एक परिवार की तरह हैं।

भविष्य में शोध कार्य करने की संभावनाएँ

- रमेशचन्द्र शाह के उपन्यासों में "वसुधैव कुटुम्बकम्" एक अध्ययन
- रमेशचन्द्र शाह के उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव का विश्लेषणात्मक अध्ययन
- रमेशचन्द्र शाह के उपन्यासों में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति — एक तुलनात्मक अध्ययन
- रमेशचन्द्र शाह के उपन्यासों में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति का मूल्यांकन

मनुष्य जब भौतिक रूप से आगे बढ़ता है— वह है विकास यानि वृद्धि (Growth)। इसके साथ जब वह उचित एवं अनुचित व्यवहार से जुड़ता है तो प्रगति करता है (Progress)। अंत में जब वह इन सबके साथ नीति, आध्यात्मिकता, स्थिरता एवं आनंद की प्राप्ति करता है। वह है कामयाबी यानी सफलता (Successful)। अभीष्ट की प्राप्ति हो जाने की स्थिति। यह अतः परिश्रम से ही संभव है।